नाट्यशास्त्र में लोक की अवधारणा

प्रो. प्रेमलता शर्मा

ज्ञान-प्रवाह में नित्य और नैमित्तिक कुछ कार्यक्रम चला करते हैं। नित्य के क्रम में प्रति रविवार को श्रीमद्भागवत पर डॉ० केदार नाथ मिश्र का प्रवचन चलता है, धाराप्रवाह या धारावाहिक क्रम से। नैमित्तिक रूप से इस बार यह निर्णय हुआ कि वर्ष भर में कम-से-कम दस-बारह विशिष्ट व्याख्यान भी हों, भिन्न भिन्न विषयों पर। इस क्रम में श्री धर्मपाल जी का प्रथम व्याख्यान हुआ। मुझे कहा गया कि जो विषय चाहूँ, चुन लूँ। तो मुझे लगा कि आज हमें शायद 'लोक' शब्द पर कुछ विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि हम आमतौर से अंग्रेज़ी के folk शब्द का जब 'लोक' के रूप में अनुवाद करते हैं तो जब हम लोक शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग भी करते हैं तो हमारे चित्त में folk की कुछ ध्वनि आ जाती है। सदैव आती हो, ऐसा नहीं है पर प्राय: आ सकती है जो कि हमारे लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकती है। folk का अनुवाद लोक नही है, या लोक का अनुवाद folk नहीं है। 'लोक' अत्यन्त व्यापक और गहरा शब्द है।

तो मुझे लगा कि नाट्यशास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जिसमें लोक पर विशेष विचार है। यूँ तो साहित्य-शास्त्र में भी **'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्'** (काव्यप्रकाश 1.3) इस प्रकार आचार्यों ने यह कहा ही है कि लोक और शास्त्र दोनों के अवेक्षण से कवि की शक्ति विकसित होती है, इत्यादि। तो लोक और शास्त्र का जोड़ा, साहित्य-शास्त्र में भी है , और जगह भी है। फिर भी नाट्यशास्त्र का तो आरम्भ ही 'लोक' शब्द से होता है और अन्त तक 'लोक' शब्द उसमें व्याप्त है और अनेक प्रकार से उस शब्द का प्रयोग हुआ है। तो मुझे लगा कि इस पर थोड़ा सा विचार करने का यदि मुझे अवसर मिलेगा तो शायद अच्छा रहेगा। इसलिए यह विषय मैंने स्वयं चुना है- 'नाट्यशास्त्र में लोक की अवधारणा।'

नाट्यशास्त्र के एकदम आरम्भ में आत्रेय प्रभृति मुनि भरत से अनध्याय के दिन प्रश्न करते हैं और एक साँस में पाँच प्रश्न उनके सामने रख देते हैं -

नाट्यवेद: कथं ब्रह्मन्नुत्पन्न: कस्य वा कृते । [ना. शा. 1.4]
कत्यङ्ग: किंप्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृश:।। [ना. शा. 1.5]

ये पाँच प्रश्न शुरू में ही रख देते हैं, भरत मुनि के सामने। तो जो पहला प्रश्न है 'कथम् उत्पन्नः' - कैसे उत्पन्न हुआ नाट्यवेद। इसके उत्तर में भरत पहले तो देश और काल की स्थापना करते हैं। कहाँ हुआ, कब हुआ? काल की गणना जो हमारे यहाँ है, उसके अनुसार कहते हैं। तो कहा कि जब कृतयुग बीत चुका और त्रेता जब प्राप्त हुआ तब क्या हुआ? उसी जगह 'लोक' शब्द आ जाता है। बिल्कुल आरम्भ ही में। क्या हुआ कि-

ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते तु कामलोभवशं गते।
ईर्ष्याक्रोधाभिसंमूढे लोके सुखितदु:खिते॥ [ना. शा. 1.9]

यों 'लोक' शब्द आया। लोक के इतने विशेषण हैं। लोक कैसा हो गया ? ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त हो गया, काम-लोभ के वश में हो गया, ईर्ष्या-क्रोधादि से सम्मूढ हो गया। तो यहाँ जो 'लोक' शब्द आया, यह मानव-समुदाय के लिए है, पूरे मानव-समाज के लिए, जिसमें मानव समुदाय के सभी वर्ग सम्मिलित हैं। 'लोकसुखितदु:खिते'-की टीका में अभिनवगुप्तपाद कहते हैं कि कृतयुग में तो दु:ख का प्रवेश नहीं हैं, पर त्रेतायुग आया तो दु:ख का प्रवेश हो गया। और लोक 'सुखितदु:खिते' हो गया यानी सुख-दु:ख के झूले में झूलने लगा। लोक तो ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त हुआ, ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ इत्यादि के वशीभूत हुआ। यहाँ तो 'लोक' शब्द पूरे मानव समुदाय के लिए आया। काल के लिए तो त्रेतायुग की बात कर दी और देश के लिए जम्बुद्वीप की बात की है। जम्बुद्वीप जो था उसमें यह सब होने लगा। तो इन्द्र आदि देवता ब्रह्मा के पास गए और कहा कि यह 'वेद-व्यवहार' जो है यह तो पूरे समाज के लिए नहीं है, समाज के कुछ वर्ग इसमें छूट जाते हैं, इसलिए-

तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् । [ना. शा. 1.12]

(आप अन्य एक वेद की सृष्टि करिए जो पञ्चम वेद होगा और सार्ववर्णिक होगा)

तो 'कस्य वा कृते' 'किसके लिए' का उत्तर इसमें आ गया। सभी वर्णों के लिए है यह। उन्होंने यह नहीं कहा कि आप 'नाट्यवेद' की सृष्टि करिये, 'पञ्चमवेद' की सृष्टि करिये, यही कहा। फिर ब्रह्मा ने स्वयं कहा कि ठीक है मैं अब नाट्यवेद की सृष्टि करता हूँ। पहले चारों वेदों का स्मरण किया और उनमें से पञ्चमवेद नाट्यवेद की सृष्टि की। अब नाट्य का वर्णन है, यानी नाट्य क्या है? यह कौन से वेद की सृष्टि की है? नाट्य की जो भी व्याख्या है, इसी अध्याय में, पहले ही अध्याय में आई है उसमें पुन: 'लोक' शब्द आता है और एक समास में आता है। कहा कि -

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्। [ना. शा. 1.111]

यह जो नाट्य मैं बनाने जा रहा हूँ, इसमें लोक-वृत्त का अनुकरण होगा। 'अनुकरण' अर्थात् अंग्रेज़ी का 'imitation' शब्द नहीं, अपितु 'पुनः करना' है। जो कुछ लोक में होता है उसे पुनः एक बार करना 'अनुकरण' है।

तीन शब्द हैं प्रथम अध्याय में जिनमें 'अनु' लगता है और तीनों ही बड़े मार्मिक शब्द हैं - अनुकरण, अनुकीर्तन और अनुदर्शन। तो कहा कि लोकवृत्तानुकरण नाट्य है।

यहाँ फिर लोक आ गया। यहाँ लोक, मैं समझती हूँ, केवल मानव समुदाय नहीं अपितु समग्र सृष्टि के लिए है। 'लोक' शब्द यहाँ और व्यापक अर्थ में है, क्योंकि सृष्टि में मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी, वनस्पति जगत् भी, सभी कुछ सृष्टि में आ जाता है और इन सब से मनुष्य का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य अपने आप में अकेला कभी भी नहीं जी सकता, इन सबसे उसका सम्बन्ध है। इसलिए 'लोकवृत्तानुकरणं' जब हम कहते हैं तो प्रमुख रूप से उसमें भले ही मानव समुदाय हो किन्तु पूरी सृष्टि वहाँ 'लोक' शब्द में आ जाती है।

तो नाट्य का इन शब्दों में वर्णन किया गया -

नानाभावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ [ना. शा. 1.111]

और 'लोकवृत्त' की फिर व्याख्या करने के लिए दो शब्द नाट्यशास्त्र लेता है। लोकवृत्त क्या है ? तो कहा कि लोक का भाव और कर्म, यह लोकवृत्त है। लोक का चरित्र क्या है ? दो ही शब्दों में लोक के चरित्र की व्याख्या हो जाती है - भाव और कर्म। ये 'भाव' और 'कर्म' शब्द व्याकरण में भी आते हैं। उनकी यहाँ व्याख्या की आवश्यकता नहीं, पंडित लोग यहाँ हैं किन्तु नाट्यशास्त्र में भाव और कर्म का हम बहुत सीधा अर्थ लें तो यही है कि मनुष्य का आभ्यन्तर और बाह्य। भाव उसका आभ्यन्तर है, कर्म उस (भाव) का, बाहर प्रकटीकरण है।

तो इन दो शब्दों से लोकवृत्त की व्याख्या हो जाती है। लोकवृत्त और क्या है ? लोक का भाव और कर्म। बार-बार कई शब्दों में, कई प्रकार से आते हैं ये दोनों शब्द।

कर्मभावान्वयापेक्षो नाट्यवेदो मया कृतः ॥ [ना. शा. 1.105]

लोक के कर्म और भाव का जिसमें अन्वय है, ऐसा नाट्य मैंने बनाया है। और फिर इससे

क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? तो कहा कि -

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ [ना. शा. 1.115]

फिर 'लोक' आया। लोक का इससे उपदेश होगा। यहाँ लोक अवश्य ही मानव समुदाय के लिए है। पशु समुदाय का उपदेश करने की बात नहीं होती है, वे तो अपने स्वभाव में ही जीते हैं। मनुष्य को ही उपदेश की आवश्यकता होती है। उपदेश अर्थात् शिक्षण। अब आजकल हमलोग उपदेश समझते हैं 'preaching' के लिए, वह अर्थ संस्कृत में तो है नहीं। उसका अर्थ बिल्कुल सीधे-सादे जिसको आज हम शिक्षण कहते हैं, वह है। पाणिनि का उपदेश और यह 'लोकोपदेशजननं' जब कहते हैं तब इसका अर्थ यही है कि इससे लोक का शिक्षण होगा। यह नाट्य जो मैंने बनाया है उससे लोक का विनोद भी होगा। उपदेश और विनोद, ये दो प्रयोजन रख दिए और दोनों के साथ 'लोक' शब्द है।

तो प्रमुख रूप से मानव- समुदाय और व्यापक रूप से समग्र सृष्टि जिसमें कि मानव-समुदाय जीता है, जिसके साथ उसका प्रतिक्षण सम्बन्ध होता है - यह सब का सब लोक शब्द में आ जाता है। इसके लिए आज हम-लोगों के यहाँ आधुनिक भाषा में एक शब्द बहुत प्रचलित है, वह है 'जीवन'। हिन्दी में आज बहुत प्रचलित है और अन्य भारतीय भाषाओं में भी। आधुनिक चिन्तन में यह शब्द बहुत व्यापक रूप से प्रयुक्त होता है। मुझे लगता है आज जिसे हम जीवन कह रहे हैं, उसी को नाट्यशास्त्र लोक कह रहा है। नाट्यशास्त्र में 'जीवन' शब्द आप को नहीं मिलेगा, लेकिन आज अंग्रेज़ी के प्रभाव से कहिए या जैसे भी कहिए, 'life' शब्द को हम व्यापक रूप से समझते हैं उसी का अनुवाद हम 'जीवन' कह कर करते हैं और जो बात आज हम जीवन के लिए कहते हैं, वही बात नाट्यशास्त्र इस 'लोक' शब्द से कह रहा है, जो कि बहुत ही व्यापक शब्द है और इसकी, 'लोकवृत्त' की व्याख्या कर्म और भाव के द्वारा की गई है।

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ॥ [ना. शा. 1.121]

लोक का जो स्वभाव है, मुख्य रूप से मानव-समुदाय और पशु-पक्षी का भी है। यदि हम पशु को दिखाते हैं नाट्य में तो उसके स्वभाव का भी हम ध्यान रखते हैं। मुझे याद आ रहा है इस समय कुड़ियाट्टम में जब कोई हनुमान् की भूमिका करता है, हनुमान् के वेश में अभिनय करता है तो बार-बार जैसे बन्दर खुजाता है न अपने आप को, बन्दर की आदत होती है यहाँ खुजाना, वहाँ खुजाना, तो वह बीच-बीच में कर लेता है। यह स्वभाव है, लोक-स्वभाव है, उस स्वभाव को दिखाना है, यह उसका धर्म है, उसको दिखाना नाट्य का काम है। इसी प्रकार यदि बैल का

अभिनय करते हैं तो गाय या बैल, उनके शरीर में एक तरह से झुरझुरी - सी होती है। यदि कोई छू दे या जरा सी लग जाय तो एक तरह का बहुत हल्का कम्प-सा होता है। वह करने का प्रयत्न अभिनेता करता है। इसीलिए कि वह लोक-स्वभाव है। तो लोक-स्वभाव को हमें अङ्ग आदि के अभिनय से प्रस्तुत करना है।

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः। [ना. शा. 1.121]

लोक का जो 'स्वभाव' है, वह जब अङ्गादि के अभिनय से प्रस्तुत किया जाता है, प्रयुक्त होता है तो वह नाट्य बन जाता है। है तो वह लोक का ही स्वभाव, किन्तु हम नाट्य में उसको अङ्गादि के अभिनय से प्रस्तुत करते हैं। लोक के भाव और कर्म का ही नाम 'स्वभाव' है। फिर कहा-

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥ [ना. शा. 1.106]

यहाँ 'त्रैलोक्य' में, लोक का एक अर्थ भुवन भी है हमारे यहाँ। भुवन का अर्थ ले लें भले ही। तीन भुवन माने जाते हैं या तीन लोक माने जाते हैं या ये जीवन के तीन स्तर हैं, जो भी कहा जाय। 'त्रिलोक' के रूप में भी लोक शब्द का ग्रहण हुआ है। पूरे जीवन में जहाँ कहीं जो कुछ भी है, तीनों लोकों में जो कुछ भी है, उसी का 'भावानुकीर्तन' नाट्य में होता है। कुछ भी छूटता नहीं है इसमें से। शुभ-अशुभ कुछ भी नहीं छूटता है, जो कुछ भी है, जो भी लोक में हुआ करता है, उस सब का इसमें अनुकरण है, अनुकीर्तन है और उन सब का वह अनुदर्शन कराने वाला है।

'सर्वकर्मानुदर्शकम्'

यह नाट्य जो है वह सब कर्मों को दिखाने वाला है, सब भावों का अनुकीर्तन करने वाला है, अनुदर्शन कराने वाला है और लोक के स्वभाव का अनुकरण करता है, फिर से उसको एक बार प्रस्तुत करता है। फिर से करता है, यानी जो कुछ जीवन में हुआ करता है उसको फिर से करता है। उसके बारे में फिर से कहता है, उसको फिर से दिखाता है। यह फिर से देखना, यह 'अनु' लगाने से, कौन-सी नई बात होगी ? जीवन में तो वह सब होता ही है। फिर से देखना, फिर से करना, फिर से उसके बारे में कहना, यह क्यों आवश्यक होता है ? इसीलिए होता है कि इससे एक ओर विनोद होता है और विनोद के साथ-साथ शिक्षण भी होता है। दोनों एक साथ होता है। केवल शिक्षण ही नहीं कि ऐसा करना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए, ऐसा विधि-विधान, ऐसा विधि-निषेधात्मक यह शास्त्र नहीं है। शास्त्र तो है, परन्तु ऐसा विधि-निषेधात्मक

नहीं है। यह ऐसा शास्त्र है जो आप के सामने कुछ मनोरम उपस्थित करता है, कुछ ऐसा दृश्य प्रस्तुत करता है, उपस्थित करता है और उसके द्वारा आपका बहुत ही सूक्ष्म रूप से शिक्षण करता है और विनोद तो करता ही है । क्योंकि जीवन में जो भी हुआ करता है उसको जब हम रङ्ग पर पुनः प्रस्तुत होते हुए देखते हैं तो उसमें विनोद इसलिए होता है कि उस जीवन की अवस्था में जो एक दंश रहता है, देश-काल-पात्र का जो एक बन्धन रहता है वह वहाँ हट जाता है थोड़ी देर के लिए। जीवन में तो वह सब कुछ होता ही है, पर पुनः पुनः उन्हीं अवस्थाओं को देखने से, उनका अनुदर्शन होने से एक तो सूक्ष्म रूप से उपदेश होता है, सीधे कुछ नहीं कहा जाता और दूसरे विनोद तो होता ही है। सभी को नाट्य क्यों अच्छा लगता है ? इसीलिए अच्छा लगता है कि उसमें हम फिर से एक बार जीवन को देखने का, समझने का अवसर पाते हैं।

इस प्रकार पूरे प्रथम अध्याय में 'लोक' शब्द बार-बार या तो लोकवृत्त के रूप में या लोकोपदेश के रूप में या लोक-विनोद के रूप में है। एक बार प्रथम अध्याय के अन्त में 'मर्त्यलोक' - यह समास भी आता है। वहाँ देवों से कहा गया है कि आप लोग मर्त्यलोक में उतर कर आयेंगे तो आपको यह पूजा, यह बलि मिलेगी। बलि भी एक प्रकार से जो भी चढ़ाया जाता है, उसका नाम है। बलि का मतलब जरूरी नहीं कि पशुबलि ही समझा जाया। नाट्य के प्रसंग में जो पूजा होगी वह आप सब लोगों को मिलेगी। वहाँ 'मर्त्यलोक' यह भी समास आया है।

इसके बाद नाट्यशास्त्र में 'लोक' का, सर्वत्र प्रवेश है। जहाँ भी अभिनय की कोई बात आती है, जहाँ भी कुछ वर्णन आता है, उसके अन्त में भरत हमेशा यह कह देते हैं कि जो कुछ मैंने नहीं कहा है, जो नहीं कह पाया हूँ, जो कुछ मेरे कहने से छूट गया हो, वह आप लोक में देख लेना। वहाँ जो 'लोक' शब्द आता है, उसका मतलब लोक-व्यवहार है। जो भी जीवन में हुआ करता है वैसा आप कर लेना। अगर मैंने नहीं बताया है सीधे-सीधे तो आप लोक में से देख लेना। वहाँ 'लोक' से लोक-व्यवहार समझ सकते हैं। उसमें से देख लेना - यह बार बार, पदे-पदे कहते हैं।

इसके बाद तेरहवें अध्याय में जहाँ कक्ष्या - विभाग की चर्चा आई है, उस अध्याय के अन्त में 'धर्मी' की बात आई है। 'धर्मी' एक बड़ा पारिभाषिक शब्द है नाट्यशास्त्र का। नाट्य के प्रयोग की रीति दो प्रकार की बताई है - लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। इसकी बहुत अच्छी व्याख्या है वहाँ। ये कुछ श्लोक मैं यहाँ पढ़ूँगी भी क्योंकि बहुत सुन्दर व्याख्या है वहाँ। लोकधर्मी तो वह है जिसको आप अंग्रेज़ी में 'realistic' कह सकते हैं। जो कुछ भी हुआ करता है वैसा ही करें

तो यह लोकधर्मी है और लोकधर्मी के बिना तो कोई भी प्रयोग नहीं होता। किसी भी प्रयोग में लोक का आधार रहता ही है, इसलिए लोकधर्मी तो वह रहता ही है। लेकिन फिर भी कुछ 'stylisation' थोड़ा या अधिक रहता ही है। किसी प्रयोग में 'stylisation' अधिक हो सकता है, किसी में कम हो सकता है। बिना 'stylisation' के तो कोई भी कलात्मक प्रयोग नहीं होता। फिर भी किसी में लोक का आधार अधिक सीधे रहेगा और किसी में लालित्य लाने के लिए, खूबसूरती लाने के लिए हम 'stylisation' अधिक करते हैं. लोक में जो क्रियाएँ हम करते हैं, वही जब नृत्य में या अभिनय में करते हैं तो उसमें एक लालित्य लाते हैं और उससे वह नाट्यधर्मी बनता है। न केवल उससे, बल्कि नाट्यधर्मी के लिए फिर यह भी कहा कि ऐसा भी कई कुछ नाट्य में होता है जो कि लोक में नही होता। जैसे कि अब कोई स्वगत भाषण कर रहा है तो मतलब तो यह है कि वह अपने मन में बात कह रहा है। और मन में कहेगा तो बात प्रेक्षकों तक कहाँ से संप्रेषित होगी ? तो फिर जो कुछ उसके मन में है, वह बोल रहा है, जोर - जोर से, पूरा प्रेक्षक समुदाय उसको सुन रहा है, उसके वक्तव्य को समझ रहा है, पर है वह उसका स्वगत भाषण। इससे भी अधिक यह है कि रङ्ग पर दो-तीन लोग हैं। दो लोग आपस में बात कर रहे हैं, तीसरा वहाँ पर है और वह नहीं सुन रहा है, पर पूरा audience सुन रहा है। यह भी होता है। उसके लिए थोड़ा सा 'stylisation' यह है कि आप ने यह हस्त कर दिया, त्रिपताक हस्त। जिस तरफ कर दिया, वह व्यक्ति नहीं सुन रहा है। तो एक सुन रहा है, एक नहीं सुन रहा है और 'audience' पूरा सुन रहा है। तो यह नाट्यधर्मी है, लोक में तो ऐसा नहीं हो सकता। यह तो 'conventions' पर चलता है। ये सारा-का-सारा ले कर एक तरह से 'conventions' बन जाते हैं। किसी भी प्रयोगात्मक कला में उसके आधार पर काम चलता है। जिसको उन 'conventions' का बोध नहीं होगा, उसको इसकी समझ नहीं होगी। वह कहेगा कि सभी लोग सुन रहे हैं। और संस्कृत नाटकों में तो ऐसा बहुत आता है। कभी-कभी तीन-तीन जोड़े रङ्ग पर होते हैं। इतना तो कर देते हैं कि कक्ष्या-विभाग कर देते हैं कि एक जोड़ा रङ्ग के एक कोने में है, दूसरा दूसरे कोने में है, एक शायद मध्य में सामने या पीछे है। वे आपस में बातें कर रहे हैं, पूरा प्रेक्षक-समुदाय सुन रहा है, लेकिन एक जोड़ा दूसरे की बात नहीं सुन रहा है उधर का जोड़ा इनकी बात नहीं सुन रहा है। बारी-बारी से आपस-आपस में सब लोग बात कर रहे हैं। किसी क्षण फिर जा कर सब कुछ प्रकट होता है। तो यह सारा जो कुछ है, ये सारी जितनी व्यवस्थाएँ हैं, यह लोक में तो ऐसी नहीं होतीं। 'stage' के लिए, रङ्ग-कर्म के लिए विशेष रूप से इनको बनाया गया है, बनाना पड़ा है। इसलिए इसको कहा है नाट्यधर्मी और लोकधर्मी तो यह है कि जो लोक स्वभाव है उस हिसाब से आप जो कुछ करते हैं, वह ठीक है। तो ऐसा कोई भी प्रयोग, मेरी समझ में, नहीं हो सकता जो या तो केवल लोकधर्मी हो या केवल नाट्यधर्मी हो वहाँ, उसमें

आपका बल किसी एक पर हो सकता है। कोई प्रयोग बहुत उच्च स्तर का नाट्यधर्मी होगा, हो सकता है, कोई कुछ कम नाट्यधर्मी होगा, अधिक लोकधर्मी होगा। इसकी बहुत लम्बी- चौड़ी व्याख्या की है। थोड़े से श्लोक मैं आप की अनुमति से पढ़ दूँगी जिनसे कि यह बात बिल्कुल स्पष्ट होगी-

लौकिकी नाट्यधर्मी च [ना. शा. 14.61]

लौकिकी अर्थात् लोकधर्मी और नाट्यधर्मी ये दो धर्मी है। लोकधर्मी जो है उसका आधार स्वभाव है। स्वभाव का भाव है, उसमें शुद्ध भी हो सकता है, विकृत भी हो सकता है। विकृति भी तो लोक में होती ही है। विकृति भी हम दिखाते हैं, शुद्ध लोकस्वभाव भी दिखाते हैं।

लोकवार्ताक्रियोपेतमङ्गलीलाविवर्जितम् । [ना. शा. 14.62]

स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता॥ [ना. शा. 14.63]

इसमें अङ्गलीला यानी अङ्गों का संचालन कोई लीला-क्रम से नहीं हो रहा है। बहुत स्वाभाविक रूप से हो रहा है। अङ्गलीला-विवर्जित जो होगा तो वह लोकधर्मी होगा। और जहाँ अङ्गों का लालित्य आ जायेगा, लीला आ जायेगी, वहाँ नाट्यधर्मी उतना बढ़ता चला जायेगा। यह तो लोकधर्मी हो गया। और नाट्यधर्मी देखिए। शुरू में ही वे कहते हैं-

अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्त्वातिभाषितम् । [ना. शा. 14.64]

'अति' शब्द लगा दिया। लोक में जो कुछ होता है, नाट्य में उसको अधिक प्रभावशाली बनाना होता है। क्योंकि बात क्या है कि लोक में तो किसी घटना को होने में बहुत से दिन भी लग सकते हैं, बहुत-से वर्ष भी लग सकते हैं। किन्तु नाट्य में तो उतना समय नहीं है हमारे पास, हमें बहुत कम समय में पूरी बात को समेटना है और उसको प्रभावशाली बनाना है। इसलिए कुछ-न-कुछ अतिवाक्यता उसमें आती ही है। सामान्य रूप से लोक में हम जिस ढंग से या जितना सा बोलेंगे, नाट्य में उससे कुछ अधिक प्रभावशाली ढंग से बात को रखने की कोशिश करनी ही होती है। इसीलिए उसी को कह रहे हैं 'अतिवाक्य' और 'अतिक्रिया' - द्वारा अतिवाक्य-क्रियोपेतं वाक्य और क्रिया, दोनों में एक प्रकार का अतिशय भाव वहाँ है। सत्त्व यानी आप सात्त्विक अभिनय भी उसमें कर रहे हैं 'अति' का मतलब यह है कि बहुत 'condensed' या घन रूप दिखा रहे हैं। थोड़े समय में बहुत अधिक आप कर रहे हैं और इसलिए उसको बड़े सिमटे हुए

रूप में अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए जो कुछ भी आप कर रहे हैं उसके लिए इस शास्त्र में 'अति' शब्द लगा कर 'अतिवाक्य', 'अतिक्रिया', 'अतिसत्त्व' कहा गया यहाँ 'अतिवाद्य' पाठ नहीं है, 'वाक्य' है। वाद्य की बात आगे आयेगी। वह भी नाट्यधर्मी है क्योंकि जीवन में तो ऐसा नहीं होता कि किसी स्थिति में हमारे साथ बाजे बजने लग जायें ऐसा तो नहीं होता। लेकिन नाट्य में हम प्रस्तुति को प्रभावशाली बनाने के लिए बाजे भी बजाते हैं प्राय: पूरे समय। सब तरह के बाजे बजाते हैं, तरह-तरह के। आजकल आप टी.वी. में देख लीजिए, किसी के चित्त में कुछ जरा-सा आघात लगा तो 'धाऽऽऽ' एक बाजा बज जायेगा, बड़ा-सा कहीं कोई 'गाँग' बज जायेगा, चित्त पर हुए आघात को दिखाने को। जीवन में तो ऐसा नहीं होता कि मन पर अघात लगा और उधर एक 'गाँग' बज गया। यह तो नहीं होता। लेकिन वह नाट्य में करना पड़ता है। उसके आगे कहते हैं आतोद्य की बात, वाद्य की बात आगे आयेगी। यहाँ तो 'वाक्य' ही है। और वह ठीक भी लगता है। 'अति'का तात्पर्य है exaggeration और वह कुछ-न-कुछ नाट्य में होता ही है।

लीलाङ्गहाराभिनयं नाट्यलक्षणलक्षितम् ॥ [ना. शा. 14.64]

स्वरालङ्कारसंयुक्तं (स्वः) स्वभूर्पुरुषाश्रयम्। [ना. शा. 14.65]

फिर लीला, अङ्गहार, तरह-तरह के हैं। जितने भी हमारे अङ्गों के संचालन हैं, उनकी मिलकर के जो बहुत बड़ी इकाई बनती है, यह अङ्गहार है। छोटी इकाईयाँ करण हैं और बहुत से करण मिलकर अङ्गहार बनते हैं। तो वह लीला, अङ्गहार के साथ अभिनय नाट्यधर्मी है।

अब सब नाट्य के अलङ्कार इसमें आ जायेंगे। अलङ्कार से यहाँ शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार की बात नहीं है। नाट्यालङ्कार तो अलग-अलग भाव हैं और अभिनय के प्रकार हैं।

फिर अब देखिए, स्वर भी आ गया है। स्वरालङ्कार स्वर का अलङ्कार भी उसमें लगा देते हैं। यानी यह तो नाट्यधर्मी की ही बात है। जीवन में तो स्वर का अलङ्कार नहीं लगता। हाँ, स्वर का अलङ्कार इतना तो लगता है कि काकु-भेद होता है बात-चीत में। वह तो होता है पर उस प्रकार से उसमे सङ्गीत तो नहीं आ जाता। नाट्य में हम प्रभावशाली बनाने के लिए, जो कुछ भी हो रहा है, नाट्य में हम पीछे से, कुतप में से कुछ भी वाद्य बजवाते हैं, कुछ भी गीत गवाते हैं। ध्रुव-गान का यही प्रयोजन था कि जो भी अवस्था चल रही है नाट्य में, उसको थोड़ी देर के लिए 'freege' कर दिया और पीछे से उसके उपर कोई 'comment' किया जा रहा है। यह भी एक व्यवस्था थी। तो उसमें वाद्य भी है, गीत भी है, सब कुछ है।

स्वरालङ्कार संयुक्तम्।

'अस्वस्थपुरुषाश्रयम्' यह भी बड़ा अच्छा एक वाक्य दिया। जो नट है, वह वहाँ 'स्व-अस्थ' नहीं है। अपनी अवस्था में तो नहीं है, किसी 'पर' की जिसकी भूमिका उसने ली है, उसकी अवस्था को निभा रहा है। 'अस्वस्थपुरुषाश्रयम्' अस्वस्थ का मतलब यहाँ बीमार नहीं है, बल्कि जो परस्थ हो रहा है, अपने आप को दूसरी किसी भूमिका में रखकर जो काम कर रहा है जो भी उसके द्वारा प्रकट होता है।

यदीदृशं भवेन्नाट्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥ [ना. शा. 14.65]

वही बात कह रहे हैं जो मैंने अभी कही थी कि पास में कोई खड़ा है और नहीं सुन रहा है। 'आसन्नोन्नां च यदवाक्यं न शृण्वन्ति परस्परम्' बगल में खड़ा हुआ कोई बात कर रहा है और परस्पर सुन नहीं रहे हैं। यह तो नाट्य में ही हो सकता है। 'अनुक्तंश्रूयते यच्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता'। जो नहीं कहा वह भी सुनता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है नाट्य में - 'अच्छा! क्या कहा ? तुमने यह कहा ?' हालाँकि कहा कुछ भी नहीं यानी यह बताने के लिए कि आकाशवाणी हुई है या कुछ बात कहीं हुई है, वो आकाशवाणी भले ही सुनाई न दी हो, अपने-आप कह रहा है कि 'अच्छा ऐसा कहा'। अपने ही बता दे रहा है उसको। तो अनुक्त को सुन लेता है, उक्त को सुनता नहीं है। यह भी नाट्य में, नाट्यधर्मी में होता है।

शैलयानविमानानि चर्मवर्मायुधध्वजाः ।
मूर्तिमन्तः प्रयुज्यन्ते नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥ [ना. शा. 14.68]

फिर कह रहे हैं कि आप जो पर्वत दिखा रहे हैं, विमान दिखा रहे हैं, यान दिखा रहे हैं, सचमुच के तो नहीं दिखा रहे हैं। वह तो एक प्रतीकात्मक रूप से दिखाया जाता है। चमड़े से या किसी वस्त्र से, किसी एक फ्रेम पर, बाँस का ढाँचा बनाकर उसके ऊपर वस्त्र ढँक दिया, उसको कुछ रँग दिया, तो आपने दिखा दिया कि पहाड़ है। ये वास्तविक नहीं, उनकी मूर्ति ही है। ये शैल, यान, विमान, सबकी मूर्ति आप खड़ी करते हैं, सचमुच के शैल, यान, विमान तो नहीं खड़े करते। यह भी नाट्यधर्मी है।

फिर कभी-कभी यह भी होता है कि एक ही अभिनेता एक भूमिका करके फिर दूसरी भूमिका करने लगता है। यह भी तो जीवन में नहीं हो सकता, यह भी लोक में नहीं होता। फिर

ललितैरङ्गविन्यासैस्तथोत्क्षिप्तपदक्रमैः।
नृत्यते गम्यते यच्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥ [ना. शा. 14.71]

यह बहुत काम की बात है। आप ललित रूप से अङ्गविन्यास करेंगे अभिनय में, जो कि लोक में प्रायः नहीं होता और 'उत्क्षिप्तपदक्रमैः' ऊँचे उठा-उठा कर कदम भी रखेंगे आमतौर से, क्योंकि नाट्यशास्त्र का जो विधान है, अभिनेताओं के चलने का वह भी सामान्य चाल नहीं है। अलग-अलग भूमिकाओं के लिए अलग-अलग प्रकार की गतियाँ बताई गई हैं। जीवन में तो ऐसा नहीं होता। उसके साथ अलग-अलग लय चलेगी। त्रयश्र गति की लय चलेगी तो एक प्रकार की भूमिकाओं के अभिनेताओं के लिए होगी, चतुरश्र गति की चलेगी तो दूसरे प्रकार के अभिनेताओं के लिए होगी, यह जीवन में तो नहीं होता है। यह तो सारा इसीलिए बनाया गया है कि उससे प्रभाव बढ़े। जो भी आप कहना चाहते हैं, दिखाना चाहते है वह कम समय में आप अधिक से अधिक दिखा सकें। इसके लिए किया जाता है, जो कि लोक से जरूर ही कुछ हट कर हो जाता है। है तो ठीक वही जीवन में, लोक में भी आदमी चलता ही है, नाट्य में भी चलता ही है। पर चलने-चलने में अन्तर हो जाता है। यह ललित है, इसमें लालित्य लाने की आप कोशिश करते हैं। और उत्क्षिप्त पद-क्रम यानी अधिक ऊँचे उठा कर पैर भी आप रखते हैं, कभी जरूरत हो तो। नृत्यते गम्यते चापि - इन्हीं पद-क्रमों से आप नाचते भी हैं, चलते भी हैं।

इस प्रकार नाट्यधर्मी और लोकधर्मी हैं। इसमें लोकधर्मी का अर्थ एक तरह से Realistic presentation है और नाट्यधर्मी का अर्थ यहाँStylised presentation है। इसको ललित बना कर आप अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाते हैं। वह नाट्यधर्मी है। इस प्रकार यहाँ लोक और नाट्य को आमने-सामने रख कर देखा गया है।

पुनः इक्कीसवें अध्याय में आहार्य-अभिनय की चर्चा है। पूरे अध्याय में आहार्य की चर्चा है। उस अध्याय के अन्त में पुनः इस बात की चर्चा करते हैं कि आप आयुध बनायेंगे, उपकरण बनायेंगे Stage properties बनायेंगे तो यह लोहे की और फौलाद की नहीं बनानी चाहिएँ, क्योंकि भारी हो जायेंगी और अभिनेता थक जायेगा। इसलिए चमड़े की बनाइये, लकड़ी की बनाइये, वस्त्र की बनाइये, इस सबसे उपकरण और आयुध बनाइये। क्योंकि सचमुच तो मारना नहीं है वहाँ। फिर आगे कहते भी हैं कि सचमुच नहीं मारना है। वह तो संज्ञा-मात्र से दिखाना है, युद्ध भी दिखाना है तो संज्ञा-मात्र से दिखाना है, सचमुच थोड़े ही मारना है किसी को ! इसलिए उपकरण जितने भी बनायेंगे, नाट्यधर्मी बनेंगे, ये हल्के पदार्थों में चर्म है, वस्त्र है, वेणु है, वेणु के दल कहा है, वेणु की खपच्चियों, बाँस की खपच्चियों से सब ढाँचे बना लें, उसके ऊपर

कपड़ा लगा दें, वह हल्के से हल्का रहे जिससे कि सुविधा हो, बस आपको एक मूर्ति खड़ी करनी है। 'मूर्ति' शब्द कितना अच्छा दिया है। मूर्ति खड़ी करनी है आपको, वहाँ 'लोक' थोड़े खड़ा करना है सचमुच। वहाँ भी नाट्यधर्मी लोकधर्मी की इस प्रकार चर्चा है।

न भेद्यं नापि च छेद्यं न चापि रुधिरस्रुतिः ॥ [ना. शा. 11.86]

रङ्गे प्रहरणे कार्यं न चापि व्यक्तघातनम्।
संज्ञामात्रेण कर्तव्यं शस्त्राणां मोक्षणं बुधैः ॥ [ना. शा. 11.87]

यहाँ आपको काटना या भोंकना, यह सब तो नहीं करना है। और प्रहार भी सचमुच का आपको नहीं करना है। यह सब नाट्यधर्मी की बात है।

रङ्ग में प्रहरण नहीं आपको जो करना है उनसे, आयुधों का जो प्रयोग करना है, तो संज्ञा-मात्र से करना है, सचमुच का नहीं करना है। काटना, भोंकना नहीं है सचमुच। इसलिए आयुध भी ऐसे बनाइये जिनसे चोट भी न लगे, और भारी भी न हो। नहीं तो थक जायेगा अभिनेता, उसको खेद हो जायेगा।

आयुध और आभरण नाना-नाना प्रकार के इसी प्रकार बनाने चाहिएँ जो हल्के हों और संज्ञा-मात्र से काम करें, सचमुच का प्रहार इत्यादि या भारी-भरकम सामान की वहाँ कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि यह लोक तो है नहीं। यहाँ सारी नाट्यधर्मी की बात है। लोक ही आप दिखा रहे हैं किन्तु नाट्य में दिखा रहे हैं इसलिए केवल लोकधर्मी को ले कर कोई भी प्रयोग सम्भव नहीं है, यह बार-बार इस भाषा में नहीं कह रहे हैं, इस भाषा में तो मैं कह रही हूँ। वो तो केवल यही कह रहे हैं कि दोनों धर्मी हैं, यहाँ दोनों धर्मियों का प्रयोग होता है। और धर्मी बहुत बड़ा तत्व है उनका। नाट्यशास्त्र में, छठे अध्याय में, सारे विषय का संग्रह बताया है -

रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धिस्स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥ [ना. शा. 6.10]

इस संग्रह में ग्यारह तत्त्व बताये हैं, उसमें धर्मी को भी लिया है। धर्मी एक बहुत बड़ा तत्त्व है इनका। यही नाट्यधर्मी और लोकधर्मी के रूप में उसकी व्याख्या है।

अब एक स्थापना नाट्यशास्त्र की बहुत बड़ी है लोक को लेकर, वह है प्रमाण। हर शास्त्र के अपने प्रमाण होते हैं, आप जानते हैं। हर दर्शन में प्रमाण पर बहुत मीमांसा हुई है, बहुत

विचार हुआ है। और हर दर्शन के कुछ-कुछ भेद-उपभेद भी हैं प्रमाणों के बारे में, नाट्यशास्त्र के प्रमाण सब दर्शनों से बिल्कुल अलग हैं। देखिए-

लोको वेदास्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्। [ना. शा. 26.119]

यह कहा है। तीन प्रमाण हैं नाट्य के। सबसे पहला लोक। लोक उसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण है, जो कुछ जीवन में होता है वह तो सबसे पहले आप को मालूम होना चाहिए। उसको आपको कैसे दिखाना है, यह तो बाद की बात है। पहला प्रमाण आपके लिए लोक है। लोक के विरुद्ध आप नहीं जा सकते। यह नहीं कि लोक में कुछ होता है, दिखायें कुछ विपरीत ही। यह तो ठीक है कि कुछ पद्धतियाँ रीतियाँ जो उपस्थित की गईं, ये ठीक है कि लोक में ऐसा नहीं हो सकता कि एक सुने, एक न सुने, वह बात अलग है, लेकिन वैसे पहला प्रमाण लोक को माना गया, फिर वेद। मैं सोचती हूँ कि यहाँ बहुत व्यापक रूप से 'वेद' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे हम चार वेद कहते हैं, केवल उतना ही नहीं है। मुझे लगता है कि जितना निबद्ध ज्ञान है, जिस भी रूप में हो वह वेद कहा गया, और अनिबद्ध है लोक। जो ज्ञान किसी भी रूप में निबद्ध हो गया है उसको 'वेद' संज्ञा यहाँ दे दी है। प्रत्येक व्यक्ति का, व्यष्टि का, व्यष्टिगत अनुभव-पुञ्ज है, उसको अध्यात्म कहा है जो समष्टिगत अनुभव-पुञ्ज है, वह लोक है और उसका जो निबद्ध रूप है, वह वेद है, ऐसा मुझे लगता है। यह बहुत गहरी बात है और बहुत पते की बात है कि नाट्य के प्रमाण ये तीन ही क्यों बताये।

लोको वेदास्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्। [ना. शा. 26.119]

मुझे लगता है, यह व्याख्या कहीं दी नहीं है जो मैं कह रही हूँ। अभिनवगुप्तपाद ने भी कुछ अधिक व्याख्या यहाँ नहीं की। बहुत सोचते-सोचते मुझे तो अपनी छोटी बुद्धि में इतना ही समझ में आया कि मानव जीवन के समष्टिगत ज्ञान psychology में जिसको हम collective consciousness कहते हैं को वेद कहा गया, यहाँ अध्यात्म में व्यष्टि की बात है और वेद में ज्ञान के निबद्ध होने की बात है। किसी भी समाज में निबद्ध-धारा में जो भी ज्ञान की धारा चलती है, उसको व्यापक रूप में 'वेद' कह सकते हैं। वैसे तो चार वेद हैं, लेकिन यहाँ केवल चार वेदों की बात हो, ऐसा मुझे लगता नहीं।

लोको वेदास्तथाध्यात्मम् - यहाँ लोक सबसे पहला प्रमाण है। क्योंकि लोक यहाँ व्यापक रूप से आ गया। अब हम और दर्शनों में जब प्रमाण पर विचार करते हैं तो एक (प्रत्यक्ष) से लेकर आठ-नौ प्रमाणों की बात यहाँ है। हम अनुमान की बात करते हैं, इस पर तो बहुत-बहुत

विचार है दर्शनों में, मैं तो कुछ कह भी नहीं सकती उसके बारे में। किन्तु इस प्रकार से लोक को प्रमाण नहीं कहा गया। हालाँकि लोक में शब्द भी आ जाता है, प्रत्यक्ष भी आ जाता है। लोक शब्द में तो सभी कुछ शब्द, प्रत्यक्ष और अनुमान- मुख्य रूप से ये तीन प्रमाण तो प्रायः सभी लोग मानते हैं। तो 'लोक' प्रत्यक्ष तथा शब्द में आ जायेगा किन्तु फिर भी यह उससे भी अधिक व्यापक है। और 'वेद' तो 'शब्द' प्रमाण में प्रमुख है ही।

नाट्यशास्त्र की यह अपनी बिल्कुल ही भिन्न स्थापना है अन्य सभी शास्त्रों से, क्योंकि यह तो प्रयोग का शास्त्र है। इस प्रयोग के शास्त्र को किन प्रमाणों की आवश्यकता है। प्रयोग के शास्त्र को सब से पहले लोक का प्रमाण चाहिए। केवल लोक से भी काम नहीं होगा। किसी भी समाज, समुदाय की जो निबद्ध ज्ञान की धारा है उसका भी बोध होना चाहिए। निबद्ध को अंग्रेजी में formulated कह सकते हैं। कहते हैं न कि यह गीत हमने बाँध दिया। यानी उसका जब एक रूप नियत कर देते हैं तो उसको हम निबद्ध कहते हैं। और जो अनियत है वह अनिबद्ध है, जैसे आलप्ति। आलाप करते हैं गाने-बजाने वाले, तो वह अनियत है, ऐसा निश्चय नहीं है कि इसके बाद यह करेंगे, इसके बाद यह करेंगे, ऐसा करेंगे, यह नहीं होता। कुछ उसमें क्रम-भेद भी हो जाता है, व्यक्तिगत भेद हो जाता है, इसलिए उसको अनिबद्ध कहते हैं। तो जो अनियत है वह 'वेद' में नहीं आयेगा, मुझे लगता है नियत ही आयेगा वेद में, निबद्ध-धारा। निबद्ध और अनिबद्ध हर बात में चलते हैं। संगीत में तो खैर ये बहुत ही व्यापक शब्द है, किन्तु और भी जीवन में सर्वत्र होते हैं। कुछ काम हम निबद्ध रीति से करते हैं, कुछ अनिबद्ध रीति से। दोनों मिलाकर जीवन चलता है। एक से नहीं चलता। संगीत भी दोनों से चलता है। निबद्ध की भी आवश्यकता होती है और अनिबद्ध की भी।

नाट्यशास्त्र की यह स्थापना नाट्यशास्त्र को अन्य सभी शास्त्रों से भिन्न करती है क्योंकि सबसे पहला स्थान यहाँ लोक को दिया है, फिर वेद को भी छोड़ा नहीं है और व्यक्तिगत अनुभव (अध्यात्म) को भी मान्यता दी है। अपने-आप को जो ठीक लगे। आपको अपना अनुभव भी तो साथ देगा। आप जब नाट्य की संरचना करेंगे या अभिनय करेंगे या नाट्य का निर्देशन देंगे उसमें आप से पहले लोक को देखेंगे, लोक में क्या हुआ करता है, हमारे समाज में क्या हुआ करता है, फिर आप यह देखेंगे कि किसी भी प्रसंग में हमारे समुदाय में निबद्ध धारा क्या है? आम्नाय क्या चल रहा है, क्या धारा चली आई है फिर सबसे अन्त में आप यह भी देखेंगे कि आप के अपने आप को कौन सी बात ठीक लगती है। उसके हिसाब से आप करेंगे। वह भी आवश्यक है। आत्म-प्रत्यय भी आवश्यक है। वह अध्यात्म में आ जाता है। और वह कला में बहुत ही आवश्यक है। इसीलिए नाट्यशास्त्र को अध्यात्म प्रमाण अलग से कहना पड़ा। अध्यात्म

का अर्थ यहाँ परमार्थ नहीं है। यहाँ तो अधिदैव, अधिभूत, अध्यात्म और 'लोक' यानी जीवन। 'लोक' का मतलब यहाँ Folk बिल्कुल भी नहीं है। जीवन में क्या होता है, वैसा ही करिए। उससे उल्टा नहीं कर सकते, निर्णय का आधार होगा लोक अर्थात् जीवन।

अब ये तो लोक और नाट्य की अब तक मैंने थोड़ी-बहुत चर्चा की। हमारे देश में लोक और वेद और लोक और शास्त्र - ये दो जोड़े और भी प्रचलित हैं। बहुत ही व्यापक जोड़े हैं और ये जो जोड़े हैं , ये ऐसे नहीं हैं कि binary opposites (परस्पर विरोधी) हों। इस बात पर मैं थोड़ा सा बल देना चाहती हूँ कि पश्चिम की जो चिन्तन-पद्धति है, उसमें हमें binary opposites अधिक समझ में आते हैं। यदि कोई जोड़ा है तो हम यह समझते हैं कि ये एक दूसरे के विरोधी हैं। ऐसा यहाँ नहीं है। वहाँ तो बहुत कुछ चिन्तन विरोध मूलक आधारों को ले कर चलता है। लेकिन हमारे यहाँ के जो जोड़े हैं लोक और शास्त्र हैं या लोक और वेद हैं, चाहे लोक और नाट्य हैं, ये ऐसे binary opposites नहीं हैं, ये परस्पर पूरक complimentary हैं। किसी भी क्षेत्र का ज्ञान कहिए या अनुभव कहिए इन दोनों को लेकर पूरा होता है, समग्र होता है। किसी एक से समग्र नहीं होता। अकेले वेद से भी नहीं होता। यहाँ तक लोक की प्रतिष्ठा है। क्योंकि लोक निरन्तर गतिशील है। वेद तो निबद्ध धारा है, उसमें भी गतिशीलता अपने ढंग की होती है किन्तु अनिबद्ध में गतिशीलता अधिक रहती है। यद्यपि ये दोनों सापेक्ष हैं, परस्पर निरपेक्ष absolute categoriesबिल्कुल नहीं हैं कि यह लोक है, यह वेद है, या यह निबद्ध है, यह अनिबद्ध है। निरपेक्ष नहीं है हाँ सापेक्ष है,relative categoriesहैं। सापेक्ष से मतलब यह कि यह अधिक निबद्ध है, यह कम निबद्ध है, यह अधिक अनिबद्ध है, यह कम अनिबद्ध है, इतना ही। जैसे कि हम आमतौर से समझते हैं और बहुत कुछ यह सत्य भी है। हम समझते हैं कि वेद में उच्चारण की परम्परा बिल्कुल अविच्छिन्न रही है। ठीक है, एक दृष्टि से ठीक है किन्तु जब देश-भेद देखते हैं तो केरल में जिस प्रकार की साम-गान-पद्धति आज प्रचलित है ठीक वैसी दूसरी पद्धतियाँ नहीं हैं। उनका भेद स्पष्ट दिखलाई देता है। देश-भेद वहाँ भी आ जाता है। हाँ, सापेक्ष रूप से कम है। absolute कुछ भी नहीं कह सकते, कहीं भी नहीं कह सकते। कहीं देश-भेद अधिक है, कहीं कम है लेकिन कतई नहीं है यह कहना बहुत कठिन है। यह अनुभव से पुष्ट नहीं होगा। लोक नाट्य का तो पूरक है ही, नाट्य का तो काम लोक के बिना चलता ही नहीं। कोई सवाल ही नहीं है चलने का। किन्तु शास्त्र भी लोक के बिना नहीं चलता। जब संगीत-शास्त्र में वाग्गेयकार के लक्षण कहे गये, जो 'वाचं गेयं च कुरुते'(संगीतरत्नाकर 3.2)।

अर्थात् जो गीत का पद भी बनाता है और उसकी स्वर-लय योजना भी बनाता है, वह वाग्गेयकार है। उसके गुणों में, यह भी बताया है - 'देशस्थितिषु चातुरी'(संगीतरत्नाकर, 3.4)

भिन्न देशों की स्थितियाँ भी उसको मालूम होनी चाहिए। बंगाल में लोग क्या करते हैं, गुजरात में क्या करते हैं, यह उसको मालूम होना चाहिए। तभी वह सच्चा वाग्गेयकार हो सकता है। नाट्य वाले को तो और अधिक मालूम होना चाहिए देश-भेद, काल-भेद, जो भी हो।

तो इस प्रकार यह लोक और शास्त्र का जोड़ा, लोक और वेद का जोड़ा, लोक और नाट्य का जोड़ा- ये तीन जोड़े बहुत ही प्रसिद्ध हैं। और भी कोई हो सकते हैं, मेरे ध्यान में न हों लेकिन ये तो तीन बहुत प्रसिद्ध हैं। 'लोक और नाट्य' का जोड़ा तो नाट्यशास्त्र में ही आया है। लोक और शास्त्र का व्यापक जोड़ा है। 'लोक और वेद' पुराना है। जब से वेद है तब से लोक भी है। अब मुझे बड़ी हँसी आती है जब आजकल जो लोग संगीत का इतिहास लिखते हैं वे कहते हैं कि वैदिक काल में संगीत ऐसा था। मुझे हँसी आती है कि वैदिक काल जिसे आप कहते हैं, उसमें क्या केवल वेद का ही उच्चारण और ज्ञान होता था? ऐसा तो हो ही नहीं सकता, लोक में कुछ नहीं होता था? उस समय भी तो लोक में कुछ न कुछ होता ही होगा। क्योंकि जब एक-एक वर्ष या बहुत लम्बे काल तक यज्ञ चलते थे तो दिन में तो खैर आप ने वैदिक मन्त्रों के साथ सब कर्मकाण्ड किया। रात में? रात के समय बैठकर गाथा सुनते हैं, नाराशंसी का गान होता है, वह क्या है? वह वैदिक गान तो नहीं है न ! तो वैदिक काल कहाँ गया ? जिसको आप वैदिक काल कह रहे हैं उसमें भी तो लोक जी रहा है। यह थोड़े ही है कि तब वहाँ लोक नहीं है। लोक तो सदैव है आप के साथ, उससे तो आप बही नहीं सकते। हाँ, उसमें से चुन-चुन के, छाँट-छाँट के निबद्ध धारा बनती चली जाती है, समृद्ध होती चली जाती है, और लोक निरन्तर गतिशील रहता है।

अंग्रेज़ी में folk में एक ध्वनि ग्रामीण की है। उनके यहाँ folk का उल्टा classical है। उनका जोड़ा folk और classical का है। classical वह लिखित परम्परा है और folk अलिखित परम्परा है। मोटा अन्तर यह करेंगे। वहाँ संगीत में भी मोटे तौर पर ऐसा ही है, लेकिन हमारे यहाँ ऐसा नहीं है। जिसको आज हम classical कहते हैं अंग्रेज़ी में, वह भी अलिखित ही है हमारा तो। वह कहाँ लिखित है। वह भी पूरा वाचिक परम्परा पर चल रहा है। 'oral tradition' पर चल रहा है। 'folk' अलिखित है तो 'classical' भी अलिखित है यहाँ तो, वह भेद कहाँ रह गया ? और उसमें एक उच्चावच की भावना आती है। यहाँ उच्चावच की भावना नहीं है। लोक को हमने कभी भी निम्न स्थान नहीं दिया। वह तो जीवन की समग्रता है। जो समग्र है, वहाँ ऊँचा-नीचा क्या कहेंगे। इसलिए जहाँ मुझे अवसर मिलता है, निवेदन करती हूँ कि लोक से हम 'folk' अर्थ न समझें और 'folk' से लोक अर्थ न समझें। क्योंकि लोक शब्द बहुत गहरा और व्यापक है और उसके साथ चाहे 'शास्त्र' को लगा दीजिए, उसके साथ चाहे 'वेद' को लगा

दीजिए, चाहे 'नाट्य' को लगा दीजिए, जिसको भी लगा दीजिए, वह उसकी समृद्धि का कारण बनता है, और उसको जिलाये रखता है। वह लोक ही है।

इस प्रकार संक्षेप में मैंने नाट्यशास्त्र में लोक की अवधारणा पर विचार किया। एक तो प्रथम अध्याय में जिस प्रकार नाट्य के लक्षण में ही लोक शब्द है उसे देखा। पहले तो नाट्य की उत्पत्ति के लिए ही लोक शब्द सबसे शुरू में आ गया - 'लोके सुखितदुःखिते' लोक यानी मानव-समुदाय जब सुखित-दुःखित हो गया, उसके सुख में दुःख का भी जब मिश्रण आ गया तब बहुत कुछ अनर्थ होने लगे। तो यह कहा कि अब पञ्चमवेद की आवश्यकता आ गई है। केवल चार वेदों से काम नहीं चलता। वहाँ 'लोक' शब्द आ गया। फिर 'लोकवृत्त'आ गया, 'लोकोपदेश' आ गया, 'लोक-विनोद' आ गया- यह सब कुछ है। और लोकवृत्त की व्याख्या भाव और कर्म से हो गई। यह सारा निवेदन मैंने किया। और फिर नाट्य की प्रस्तुति में दो धारायें - लोकधर्मी और नाट्यधर्मी इनकी चर्चा हमने की। और जीवन के अन्य क्षेत्रों में जो भी लोक के साथ जोड़े बनते हैं, उनकी संक्षेप में चर्चा की।

यह व्याख्यान दिनांक 25 मई 1998 को ***ज्ञान-प्रवाह***
सेन्टर फॉर कल्चरल स्टडीज़, वाराणसी, में दिया गया